

You deserve the best...

ISO 9001 Certified

I
A
S



P
C
S

IAS/PCS एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी

BOOK REVIEW

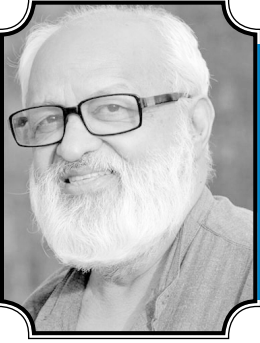
(Jan. to March — 2018)



**629, Ground Floor, Main Road,
Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-09**

Ph.:- 7042772062/63 📞 9654349902

<http://www.gsworldias.com> <http://www.facebook.com/gsworlda> gsworldias@gmail.com



प्रो. पुष्पेश पंत

दि बर्डन और डिमोक्रेसी

लेखक : प्रताप भानु मेहता

जनतंत्र के बारे में पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की एक पारिभाषिक उक्ति काफी लोकप्रिय है- “जनता की सरकार, जनता के लिए, जनता के द्वारा!” स्कूली स्तर पर छात्रों को जनतंत्र का सत्व समझाने के लिए भले ही यह उपयोगी हो किंतु समसामयिक भारतीय लोकतंत्र की जटिल असलियत से इसका कोई संबंध नहीं नजर आता। नाम के लिए सरकार खुद को जनता की सरकार कहती रहे, पर आबादी के बहुत बड़े हिस्से के लिए- खास कर वंचितों के लिए इस पर यकीन करना कठिन होता जा रहा है कि सरकार उनके लिए काम करती है। ‘जन कल्याणकारी राज्य’ का सपना कब का टूट चुका है। भारत में ही नहीं, अन्यत्र भी और सार्वजनिक जीवन में खास कर आर्थिक क्रियाकलाप में राज्य का हस्तक्षेप निरंतर घटता गया है। रही बात जनता के द्वारा सरकार के संचालन की, तो यह लगभग पालना असंभव हो चुका है कि मात्र वयस्क मताधिकार और आम चुनावों के आधार पर यह दावा किया जा सकता है कि सरकारें मतदाताओं के अंकुश या नियंत्रण के अधीन काम करती हैं। एकबार चुने जाने के बाद जन प्रतिनिधि शासक वर्ग के सदस्य बन जाते हैं और शासित जनता को सामंती युग की मानसिकता के अनुसार प्रजा के रूप में देखने लगते हैं।

प्रताप भानु मेहता भारत के सार्वजनिक बौद्धिकों में अग्रणी हैं और उनका शुमार मौलिक

राजनैतिक चिंतकों में किया जाता है। उनकी पढ़ाई दिल्ली और अमेरिका के हार्वर्ड विश्व विद्यालय में हुई है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में कुछ समय पढ़ाने के बाद वह कई बरस तक सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च नामक थिंक टैंक के अध्यक्ष रहे हैं। संप्रति वह अशोका विश्वविद्यालय के उप-कुलपति हैं। इसके अलावा वह सलाहकार संपादक के रूप में अंग्रेजी दैनिक इंडियन एक्सप्रेस के नियमित स्तंभ लेखक हैं। हिंदू तथा टेलिग्राफ जैसे प्रतिष्ठित अंग्रेजी समाचार पत्रों में भी उनके लेख नियमित रूप से छपते रहे हैं। अपनी निर्भीक तथा निष्पक्ष टिप्पणियों के लिए वह जाने जाते हैं। इसीलिए उनकी यह छोटी सी पुस्तक भी एक बड़ी और बेहद महत्वपूर्ण बहस की शुरुआत मानी जा रही है।

वास्तव में पेंगुइन बुक्स ने लंबे निबंधों की एक श्रृंखला के प्रकाशन की योजना बनाई है जो भारतीय राजनीति और समाज के अधिकारी विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा विचारोत्तेजक विश्लेषण को पाठकों तक पहुँचा सके। यह रचना उसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

लेखक आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देता है कि संक्षेप में भारतीय जनतंत्र के सभी पहलुओं को उजागर करना असंभव है और न ही हमारे सामने खड़ी सभी चुनौतियों का उल्लेख किया जा सकता है। इनके उलझे हुए अंतर्संबंधों की सूची बनाकर गिनती करने से कुछ हासिल नहीं होने

वाला। लेखक ने अपनी बात वहां से शुरू की है जो इस घड़ी अधिकांश संवेदनशील नागरिकों को परेशान कर रही है- भारत आजादी के बाद उस जनतांत्रिक सपने को साकार करने में असमर्थ रहा है जो आजादी की लड़ाई के दौरान देखा गया था और जिसकी मजबूत नींव रखने की कोशिश संविधान निर्मात्री सभा ने की थी।

लेखक ने तटस्थता के साथ अब तक के अनुभव का पुनरावलोकन किया है। वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इसके लिए राजनैतिक दलों में आंतरिक जनतंत्र का अभाव तथा चुनावी जनतंत्र को ही सर्वस्व समझने की नादानी रही है। मेहता हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि भ्रष्टाचार की जड़ चुनावी खर्च के बारे में पाखण्डी मानसिकता और पहचान की राजनीति के कारण जातिगत या सांप्रदायिक आधार पर गठित वोटबैंकों का न्यस्त स्वार्थों के रूप में विकास है। मेहता दो टूक यह बात स्वीकार करते हैं कि इसके लिए कोई एक दल जिम्मेदार नहीं - कांग्रेस, साम्यवादी, समाजवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले राष्ट्रीय राजनैतिक दल हों या जातीय अथवा क्षेत्रीय अस्मिता को मुखर करने वाली पार्टियाँ सभी पर यह बात लागू होती है।

लेखक की नजर में निर्वाचन के बाद जन प्रतिनिधियों का कमोबेश निरंकुश अधिनायकों में रूपांतरण संभव है और इस संकट के प्रति सतर्क न रहने का नुकसान भारतीय जनतंत्र को हुआ

है। विचारधारा चाहे वह प्रगतिशील क्रांतिकारी हो अथवा प्रतिगामी राजनैतिक जीवन से लुप्त हो चुकी है। विचारों और मूल्यों के टकराव की जगह स्वार्थों के संघर्ष ने ले ली है और इसीलिए जनतंत्र की जड़ें इस बंजर जमीन में सूखती जा रही हैं।

इस पुस्तक की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि यह आजादी से आज तक के समग्र अनुभव का विश्लेषण करने का हठ नहीं पालती। लेखक का फोकस मुख्यतः 1990 के दशक से आज तक के घटनाक्रम पर रहा है जो इस पीढ़ी के व्यक्तिगत सरोकारों से सीधे जुड़ा है। पाठ्य पुस्तकों से प्राप्त जानकारी 'प्रत्यक्ष किम् प्रमाण' के सामने फीकी - हल्की साबित होती है।

मेहता का यह कहना सही और सारगर्भित है कि समता के लिए संघर्ष का दावा करने वाले आंदोलनों की विफलता ने उन राजनैतिक दलों को कमजोर बनाया है जो इन आंदोलनों की अगुआई कर रहे थे। लोकनायक जयप्रकाश नारायण का अनुसरण करने वाले लालू या शरद यादव हों अथवा काशीराम की शिष्या मायावती हों सभी विचारधारा के क्षय को रोकने में असमर्थ रहे हैं। मंडल आंदोलन तो कभी कमंडल आंदोलन अर्थात् राम मंदिर निर्माण की माँग का समर्थ प्रतिरोध समझा जाता था, पर बहुत जल्दी यह सत्ता हथियाने की रणनीति में बदल गया। साम्यवादी दल भी इसका अपवाद नहीं। अपना जनाधार बचाए रखने के लिए वह संगठित क्षेत्र के मजदूरों के संरक्षक बन गए और इन सुविधा संपन्न श्रमिकों की तुलना में कहीं अधिक शोषित उत्पीड़ित अभावग्रस्त सर्वहारा वर्ग से कटते गए।

लेखक यह पाठकों को याद दिलाता है कि यह प्रक्रिया नेहरू युग में ही आरंभ हो चुकी थी। भारत के पहले प्रधानमंत्री ने तेजी से औद्योगीकरण को भारत के विकास के लिए परमावश्यक समझा और इसे प्राथमिकता दी। इस संदर्भ में उतावले अति उत्साह ने कृषि को नुकसान पहुँचाया। भूमि सुधारों को ईमानदारी से लागू करने में असमर्थता ने औपनिवेशिक युग की सामंती मानसिकता को बरकरार रखा। इसके अलावा सार्वजनिक क्षेत्र को

निजी क्षेत्र पर तरजीह देने की नीति ने उद्यमिता और कार्य कुशलता को अनिवार्यतः कुंठित किया।

लेखक को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह यह सब नेहरू की आलोचना में नहीं कहते। वह इस बात को बेहिचक स्वीकार करते हैं कि भारत जैसे अल्पविकसित समाज में केंद्रीय नियोजन और सार्वजनिक जीवन में सार्वजनिक वितरण प्रणाली, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकार अपने उत्तरदायित्व से मुँह नहीं मोड़ सकती थी।

इसी तरह मेहता इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि पूर्वाग्रह ग्रस्त व्यक्ति ही यह सुझा सकता है कि 1990 के आसपास उदारीकरण का सूत्रपात करने के लिए जिन आर्थिक सुधारों को लागू किया गया, उनसे देश को लाभ नहीं हुआ है और इस भूमंडलीकरण जनित दबाव से भारतीय जनतंत्र और भी कमजोर हुआ है। लेखक के अनुसार यह प्रवृत्ति गंभीर विश्लेषण से कतराने वाली है।

लेखक जब आजादी के बाद के वर्षों में आंदोलनों की विफलता की बात करता है तब वह इस ओर भी हमारा ध्यान दिलाना नहीं भूलता कि जहाँ तक जातिगत उत्पीड़न के विरोध और प्रतिकार का प्रश्न है। दक्षिण भारत के राज्यों में ऐसे आंदोलन अपेक्षाकृत सफल रहे हैं और उनकी ऊर्जा अधिक समय तक शेष रही है।

उत्तर भारत में मायावती दलित राजनैतिक चेतना को रचनात्मक सक्रियता के लिए प्रेरित नियोजित करने में असमर्थ रही हैं। विडंबना यह है कि वह

दलित एकता को बचाए रखने में भी नाकामयाब रहीं। दलितों के एक वर्ग की ही नेता के रूप में उनकी पहचान बनी रही है। लेखक उनके ऊपर लगाए जाने वाले आर्थिक भ्रष्टाचार का जिक्र नहीं करता, पर यह टिप्पणी जरूर करता है कि सत्ता में भागीदारी के लिए कभी भाजपा तो कभी सपा से समझौता सौदा करने के कारण उनके अवसरवादी आचरण ने राष्ट्रीय स्तर पर उनके उदय की संभावनाओं को नष्ट किया है। मनुवादियों पर उनके प्रहार कुंद होते जा रहे हैं और चुनावी

नारेबाजी तक सिमट चुके हैं। इस संदर्भ में मेहता की एक टिप्पणी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मशहूर भारतीय समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार दलित तबका सरलीकरण के साथ उन प्रतीकात्मक पहचान चिन्हों तथा सांस्कृतिक आचरणों को अपनाने लगते हैं जो पारंपरिक रूप से तथाकथित उच्च जाति के सदस्यों की पहचान समझे जाते रहे हैं। इस प्रक्रिया के कारण दलित समाज का राजनैतिक नेतृत्व अपने अनुयायियों से अलग होता जाता है। विचारधारा नहीं वरन संकीर्ण स्वार्थ ही चुनाव के समय इस वर्ग की एकजुटता को पुष्ट करते नजर आते हैं। यह एकता क्षणभंगुर ही हो सकती है। मायावती का अपनी पार्टी का एकछत्र निरंकुश अधिनायक की तरह नेतृत्व तथा संचालन भी जनतंत्र के लिए नुकसानदेह साबित हुआ है। यही सब सपा या जनता दल और उसकी टूट से जन्मे राजनैतिक दलों में देखने को मिलता रहा है। पिछड़े वर्ग की परिभाषा एक उपजाति तक सीमित रखने की प्रवृत्ति ने उपजातियों के शक्ति संघर्ष को बढ़ावा दिया है। लालू यादव, मुलायम सिंह, नीतीश कुमार सभी की राजनैतिक रणनीति यही दर्शाती है। लेखक इस बात को उजागर करता है कि 'धर्म निरपेक्षता' की ढाल तलवार भाँजने वाली इस राजनैतिक बिरादरी की विचारधारा भी कितनी खोखली और दोहरे मानदंडों वाली है।

प्रताप भानु मेहता ने अपनी इस पुस्तक में भारतीय जनतंत्र की एक और विशेषता का उल्लेख किया है, जिसे अकसर हम भुला देते हैं। आजादी के बाद भी भारत अधिकतर उन्हीं कानूनों से शासित होता रहा है जिन्हें अंग्रेजों ने अपनी जरूरत के मुताबिक 18 वीं 19 वीं सदी से लेकर 1947 तक लागू किया था। कहने को इस कानून के राज में सभी समान हैं, पर जिस पुराने साँचे में ढली न्यायपालिका काम करती है उनमें इंसाफ के तराजू का पलड़ा धनवान और शिक्षित नागरिक के ही पक्ष में झुकता है। यही बात उस नौकरशाही के बारे में भी लागू होती है जिसे कभी इस्पाती ढाँचे का नाम दिया जाता था। यह ढाँचा आज जंग खा चुका है और बुरी तरह जर्जर है। इसकी

लालफीताशाही दैत्याकार भ्रष्टाचार के लिए बड़ी सीमा तक जिम्मेदार है। आज के यथार्थ के दर्पण में इसके कुरूप अक्स को देख उसके लिए नेहरू या उनके सहयोगियों को दोष देना तर्कसंगत नहीं। लेखक अपने पाठकों को लगातार यह याद दिलाता रहता है कि जिस समय भारत स्वाधीन हुआ, आंतरिक और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ कितनी प्रतिकूल थीं। देश के विभाजन के बाद भड़के सांप्रदायिक दंगों ने देश को अराजकता की कहर तक पहुँचा दिया था। भारत में उस वक्त ५६५ रियासतें और रजवाड़े थे। इनमें से कुछ खुद को संप्रभु घोषित करने को उतावले थे। भारतीय संघ में इनका विलय कठिन चुनौती थी। कई विदेशी विद्वानों को लगता था कि ब्रिटेन के भारत छोड़ने के बाद यह देश बहुत समय तक स्वतंत्र नहीं रह सकता, वह विखंडित हो जाएगा और यदि एक बना भी रहा तो यहाँ जनतंत्र निरापद नहीं रहेगा। भारतीय जनतंत्र की अनेक उपलब्धियों का अवमूल्यन आसान है, पर इनको नकारना अन्याय ही कहा जा सकता है।

जिस महत्वपूर्ण मुद्दे पर मेहता जोर देते हैं, वह यह है कि इस पूरे प्रारंभिक दौर में राज्य ही सर्व शक्तिमान समझा जाने लगा। नागरिकों के जीवन में कोई ऐसी दूसरी जनतांत्रिक संस्था नहीं थी जो इसे संतुलित कर सकती या जन मानस में जनतांत्रिक संस्कार को पुष्ट करती। नेहरू का रुझान शुरू से समाजवादी था और वह बाजार के विरुद्ध थे। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वह 'बनिया संस्कृति' की बेड़ियों से भारत को निजात दिलाने के अतिरेकपूर्ण उत्साह में निजी क्षेत्र की संभावनाओं को नष्ट ही करते रहे। संपत्ति के निर्माण से उपजने वाले रोजगार तथा मुनाफे को बढ़ाने के लिए व्यक्तिगत उद्यमियों की कार्य कुशलता का अवमूल्यन कुल मिला कर भारत के लिए नुकसानदेह ही साबित हुआ।

अपनी सीमाओं की सुरक्षा की चुनौती ने भी उस आर्थिक विकास की गति मंद की जिसके साथ वंचितों के जीवन स्तर की बेहतरी अभिन रूप से जुड़ी है। जहाँ लेखक यह स्वीकार करता

है कि भारतीय जनतंत्र में आम आदमी की जिंदगी में सुधार हुआ है, वहीं यह समस्या गंभीर होती जा रही है कि समाज के सबसे अभाव ग्रस्त तबके का जीवन आज भी अमानवीय यंत्रणा से पीड़ित है और इसके सदस्यों के जीवन में जनतांत्रिक अधिकारों की बात करना क्रूर उपहास जान पड़ता है।

इस लंबे सारगर्भित निबंध के अंतिम अंश में मेहता इस बात को जोर देकर दोहराते हैं कि आज के भारत में जनकल्याण के लिए उदार अर्थव्यवस्था उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना कमजोर, पिछड़े वर्ग के हितों की रक्षा के लिए सतर्क राज्य का हस्तक्षेप। यह सच है कि व्यापार व्यवसाय राज्य का काम नहीं, परंतु सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता तक बेमानी ही रहेगी, जब तक कि उन्हें आगे बढ़ने के लिए शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार के समुचित साधन सुलभ नहीं होते। नागरिकों के जीवन की रक्षा की तरह यह भी आधुनिक राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है।

यह बात पहले भी कही जा चुकी है, पर इसे प्रताप भानु मेहता पूर्ववर्ती लेखकों की तुलना में कहीं अधिक असरदार तरीके से उजागर करते हैं कि हमारे जनतंत्र की अधिकांश कमजोरियाँ इस कारण उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि हमारे यहाँ किसी सामाजिक या आर्थिक/तकनीकी क्रांति के पहले ही राजनैतिक 'क्रांति' का अवतरण हो गया। यहाँ यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि क्या गांधी जी के नेतृत्व में संपन्न अहिंसक आंदोलन के बाद सत्ता के हस्तांतरण को राजनैतिक क्रांति का नाम देना उचित है? अनेक समकालीन इतिहासकारों का मानना है कि भारत को १९४७ में मिली आजादी के लिए अनेक कारण असरदार रहे। आजाद हिंद फौज के अभियानों ने ही नहीं वरन नौसैनिकों की बगावत ने भी अंग्रेज हुक्मरानों के मन में यह आशंका पैदा कर दी थी कि द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत पर वह पूर्ववत शासन नहीं कर सकेंगे। श्रीनाथ राघवन जैसे विद्वानों का मानना है कि भारत की आजादी के लिए दूसरे महायुद्ध के

प्रभाव का मूल्यांकन अभी बाकी है।

असली सवाल जो बचा रह जाता है वह विकट है। यह सांस्कृतिक क्रांति तो आज भी बाकी है। तब कैसे लेखक यह सोचता है कि २१ वीं सदी के पहले चरण में भारतीय जनतंत्र के नौजवान नागरिक राज्य के साथ किसी नए सामाजिक अनुबंध की कल्पना कर सकते हैं या कैसे खुद ब खुद राज्य से इतर जनतांत्रिक संस्थाएँ विकसित हो सकती हैं?

जनतंत्र का बोझ सिर्फ भारत जैसे निर्धन और विकासशील देश के लिए ही कष्टकारी नहीं। अमेरिका जैसे संपन्न, जनतांत्रिक क्रांति से जन्मे उस गणराज्य में भी जो खुद को पश्चिमी जनतांत्रिक परंपरा का उत्तराधिकारी मानता है, जनतंत्र निरापद नहीं समझा जा सकता

लेखक ने इस पुस्तक में गागर में सागर भरने का प्रयास किया है जिससे साधारण पाठक के लिए कुछ अड़चन पैदा हो सकती है। बौद्धिक खुराक ज्यादा गरिष्ठ हो गई है। लेखक यह मान कर चला है कि पढ़ने वाले पश्चिमी राजनैतिक चिंतन की मुख्य धाराओं से सुपरिचित हैं। वह प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के साथ-साथ फ्रांसीसी, बर्तानवी और अमेरिकी विचारकों के उद्धरण बीजाक्षरों और सूत्र वाक्यों के माध्यम से याद भर दिला अपने तार्किक निष्कर्षों को आगे बढ़ाता है। इस शैली का अपना सुख तो है, पर जरूरतमंद छात्र के लिए पथ से भटकने का जोखिम पैदा होने लगता है। यूरीपिडीस, तोकवीय, वौल्लेयर, बर्क, मार्क्स तथा वैबर के नाम से कौन अपरिचित है परंतु नामोल्लेख से उद्धृत वाक्यांश का सही संदर्भ पता नहीं लगता। अंग्रेजी जानने वाले पाठक के लिए भी पुस्तक के कुछ अंश कठिन सिद्ध हो सकते हैं। पर इस 'दोष' के बाद भी पुस्तक बेहद उपयोगी है। प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों को कुछ श्रम के साथ इसका काफी लाभप्रद होगा। समसामयिक भारतीय राजनीति और समाज के बारे में नयी अंतर्दृष्टि सुलभ कराने के साथ-साथ यह रचना साक्षात्कार के दौरान विश्लेषणात्मक मौलिक उत्तर देने में असाधारण रूप से सहायक होगी।



इज्राइल: ए कन्साइज़ हिस्ट्री ऑफ नेशन रिबॉर्न

लेखक : डेनियल गोडेस

मणिकांत सिंह

20 वीं सदी के मध्य से आजतक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जगत में इज्राइल की एक महत्वपूर्ण विवादास्पद भूमिका रही है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यहूदियों के लिये उनकी पितृभूमि के रूप में इस राज्य का गठन किया गया था। अर्थात् यह एक कृत्रिम धर्म पर आधारित राज्य है जिसका कोई सीधा नाता आधुनिक धर्मनिरपेक्ष या जनतांत्रिक राज्य से नहीं नज़र आता। इज्राइल की स्थापना के साथ ही मध्यपूर्व में एक स्थानीय युद्ध का विस्फोट हुआ जिसकी लपटे किसी ना किसी रूप में आजतक मध्यपूर्व को झुलसा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहूदियों का दावा था कि आज से लगभग 2 हजार वर्ष पहले ईसाइयों ने यहूदियों को यहां से खदेड़कर बेघर किया था। तभी से वह शरणार्थी के रूप में यूरोप के विभिन्न देशों में रहने को मजबूर हुए जहां उनकी जिंदगी अमानवीय शोषण, उत्पीड़न और तिरस्कार का शिकार रही। इस बारे में दोराय नहीं हो सकती कि शरणार्थी यहूदियों की यह शिकायत जायज़ है। सेक्सपीयर के नाटक मर्चेंट ऑफ वेनेस में इस बात का चित्रण किया गया है कि सूदखोर सायलॉग को गोरे ईसाई कितनी हिकारत की नज़र से देखते थे। मगर विडंबना यह है कि जब इज्राइल की स्थापना की गई तब हज़ारों वर्ष

से यहां रहने वाले फिलीस्तीनी अरबों को यहां से बेघर होना पड़ा। इनमें से अधिकांश मुसलमान थे और कुछ इसाई। इनके लिये भी यह स्थान जिसे वह फिलीस्तीन नाम से जानते थे पवित्र था। एक दिलचस्प बात यह है कि आज जो भू-भाग इज्राइल में येरूशेलम के नाम से जाना जाता है, वह तीनों ही धर्म के अनुयाइयों- यहूदियों, मुसलमानों और ईसाइयों के लिए समान रूप से पवित्र है। कोई भी अपने पवित्र स्थानों तक अपनी पहुंच या उन पर अधिकार के मामले में रत्तीभर समझौता करने को तैयार नहीं।

लगभग आधा सदी से जायनवादी (कट्टर राष्ट्रवादी यहूदी) यह मांग उठाते रहे थे कि फिलीस्तीन में उनकी वापसी न्यायसंगत है और उनके एक अलग राज्य की स्थापना वहीं होनी चाहिए, जहां से वह खदेड़े गये थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स ने जिस मेनडेट प्रणाली का निर्धारण किया था, उसके अनुसार इस इलाके को ब्रिटेन के कब्जे में रखा गया था। दूसरे शब्दों में भले ही यह उपनिवेश नहीं थे, पर यहां का प्रशासन ब्रिटेन के इशारे पर ही होता था। इस समय तक तेल की राजनीति अरबों और मध्यपूर्व के भविष्य के साथ बुरी तरह उलझ चुकी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान बर्तानवी खूफिया विभाग

के लिये काम करने वाले टीड लॉरेन्स ने तेल के भण्डार पर ब्रिटेन का अधिकार बरकरार रखने के लिये कई साजिशों से अपने मोहरों को कृत्रिम राज्यों के तख्तों पर बैठाया था और उनके अतीत को महिमा मंडित किया था। इसी रणनीति के अनुसार सऊदी अरब में ऐसे खानाबदोश अरबों को बिठलाया गया जिनका कही पुरानी अरब सभ्यताओं या संस्कृतियों से कोई वास्ता न था। इराक और सीरिया का अवमूल्यन कर यहां सऊद के वंश का महिमा मंडन किया गया। संयोगवश इसी भू-भाग में मुसलमानों के पवित्रतम तीर्थ मक्का और मदीना है और इनकी कुंजी हथियाने के बाद सऊदी अरब के शासकों के लिये यह दावा करना सहज हो गया कि वही अरब-मुसलमान जगत का नेता था। इसी तरह मॉरक्को और जॉर्डन में भी ब्रिटेन ने अपने मन पसंद शासकों को मुकुट पहनाया। वैसे तेल के कुओं को हथियाने का अभियान ग्लबपाशा नामक अंग्रेज अधिकारी ने इससे भी पहले शुरू कर दिया था, पर इसे अंजाम देना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही संभव हुआ। मुसलमानों-अरबों और यहूदियों का बैर सदियों पुराना है और जाहिर है कि तेल के मालिक अरबों को नाराज करने का खतरा पश्चिमी औपनिवेशिक ताकतें नहीं उठाना चाहती थीं।

अब सवाल यह उठता है कि फिर ऐसा क्या हुआ कि 1945 में मित्र राष्ट्र यहूदियों के लिये पितृ भूमि वाले राज्य के सपने को साकार करने के लिये राजी कैसे हो गये। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नाजी जर्मनी में हिटलर ने बड़ी बर्बरता के साथ यहूदियों के उन्मूलन के लिये वंशनाशक नीतियों को लागू किया, कई लाख यहूदी गैस की भट्टी में झोंक दिये गये और कई के साथ पाशविक 'वैज्ञानिक' प्रयोग किये गये। हिटलर की हार के बाद जब इस बर्बरता का पर्दाफाश हुआ तब जर्मन ही नहीं, सभी पश्चिमी देश एक अपराध बोझ से ग्रस्त हुये, क्योंकि जिस समय नाजी यहूदियों के उन्मूलन में जुटे थे उस समय अपने राष्ट्रहित में लगभग सभी पश्चिमी देशों ने इस राक्षसी अत्याचारों की अनदेखी की थी। प्रायश्चित्त के रूप में इज्राइल की स्थापन ही सबसे बेहतर विकल्प लग रहा था।

इज्राइल के समर्थन का एक और कारण यह भी था कि अनेक पश्चिमी देश जो स्वयं यहूदियों के प्रति नस्लवादी द्वेष से भरे थे, यह सोचने लगे थे कि एकबार इज्राइल की स्थापना के बाद उनके यहां रहने वाले यहूदी भी अपनी पितृभूमि चले जायेंगे और उन्हें इन कट्टरपंथी सूदखोर-मुनाफाखोरो से छुटकारा मिल जायेगा।

इज्राइल का समर्थन करने वाले लोगों का एक तीसरा खेमा भी था। अनेक बड़ी अमेरिकी तेल कंपनियों के मालिक रॉकफैलर जैसे यहूदी वंशज थे और भले ही वह स्वयं कट्टरपंथी नहीं थे, सांस्कृतिक कारणों से यहूदियों की इस मांग का समर्थन करते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप से भागकर अमेरिका में शरण लेने वाले वैज्ञानिकों और कलाकारों में भी अनेक यहूदी मूल के थे। इनमें आइनस्टाइन का नाम प्रमुख है। अमेरिकी मीडिया में मुखर लेखकों, फिल्म निदेशकों, संगीतकारों आदि में भी अनेक यहूदी रहे हैं और इन सब के प्रभाव में जायनवादी यहूदियों को अपनी मंजिल तक पहुंचना आसान महसूस हुआ।

इज्राइल की स्थापना के साथ ही उसके अरब पड़ोसियों ने उस पर हमला कर दिया जिन्हें लगता था कि पश्चिमी साम्राज्यवाद उनके कलेजे में एक खंजर उतार रहा है और इससे पहले कि वह उन्हें नुकसान पहुंचा सके उसे ही समूल नष्ट कर देना चाहिए। सऊदी अरब भले ही अमेरिका का पक्षधर था पर मिस्र, सीरिया और इराक की तरक्की पसंद सेना का रुझान समाजवाद और सोवियत संघ के प्रति था। इन देशों के फौजी हुक्मरानों का मानना था कि इज्राइल शीतयुद्ध की सतरंजी बितास पर अमेरिका की टेढ़ी-तरछी चाल है जिसकी तत्काल काट नहीं की गई तो मात का मुंह देखना पड़ सकता है। जहां इज्राइलियों को अमेरिका का सैनिक और राजनयिक समर्थन प्राप्त था वहीं अरबों के पक्ष में सोवियत संघ का सुरक्षा परिषद वाला निषेधाधिकार का कवच था। इसी कारण मध्यपूर्व में निरंतर जस की तस स्थिति बनी रही है।

1947-48 वाले सैनिक संग्राम का अंत एक असहज युद्ध विराम में हुआ। उसके बाद से आजतक अरब राष्ट्र इज्राइल के साथ अनेक युद्ध लड़ चुके हैं, जिनमें 1967 और 1973 के युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके पहले 1956 में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद फ्रांस और ब्रिटेन ने सैनिक हस्तक्षेप का प्रयास किया था जिसमें उन्हें असफलता का मुंह देखना पड़ा। इससे अरबों में यह भ्रम पैदा हो गया कि वह इज्राइल का मुकाबला कर सकते हैं। परन्तु 1967 और 1973 की सैनिक मुठभेड़ों ने उनका यह भ्रम बुरी तरह तोड़ दिया। अरबों ने यह कल्पना नहीं की थी कि इज्राइली-यहूदी कितने उत्कट देशप्रेमी है और अपने देश की रक्षा के लिये प्राणों को कितनी आसानी से न्योछावर कर सकते हैं। अपने छोटे आकार के बावजूद इज्राइल तब से आजतक न केवल अपनी एकता, अखण्डता और स्वाधीनता की रक्षा करने में समर्थ रहा है, वरन् उसने विज्ञान और टेक्नोलॉजी की दुनिया में असाधारण प्रगति कर अपनी खास पहचान विकसित देशों में बना

ली है। यह कहा जा सकता है कि वास्तव में एक प्राचीन राष्ट्र का पुनर्जन्म हो गया है।

यदि इस पुस्तक में संक्षेप में ही सही सिर्फ इज्राइल का बीसवीं सदी के मध्य से आजतक का इतिहास का ही सर्वेक्षण किया गया होता, तब भी यह पुस्तक काफी उपयोगी होती। परन्तु लेखक ने इससे कहीं अधिक अपने पाठकों के लिये प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उसने बड़े कौशल से, पर तटस्थता के साथ बिना भावह्विल हुए उस दौर की मर्म स्पर्शी घटनाओं का ब्योरा दिया है, जब अलग-अलग देशों से आये अपनी प्रवासी जड़ों से बिछड़े यहूदी एकबार फिर नई तरह के शरणार्थी बन अपनी पितृभूमि पहुंच रहे थे। कठिनाई उन यहूदियों की ज़्यादा थी जो अफ्रीकी या एशियाई मूल के थे और निर्धन तथा अशिक्षित थे। उस समय एक साम्यवादी संस्कार इस समुदाय को एकजुट कर रहा था कि बुत्स में रहने वाले सभी साम्यवादी अपने सुखे और दुखों का साझा करते थे सभी के नौजवानों के लिये सैनिक सेवा अनिवार्य थी और बंजर रेगिस्तानी भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये सभी समान रूप से परिश्रम करते थे। एक आदर्शवाद इन सभी का प्रेरित करता रहा और इसी कारण इज्राइल थोड़े ही समय में बहुत प्रगति कर सका। पर लेखक अपने पाठकों का ध्यान इस ओर भी दिलाता है कि आदर्शवाद उत्कट राष्ट्रप्रेम या धार्मिक कट्टरता राष्ट्र निर्माण के लिये यथेष्ट नहीं थी। हालांकि, इज्राइलियों ने इस काम के लिये बहुत पराक्रम किया मृतप्राय हिब्रू भाषा को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया और ना केवल प्राथमिक शिक्षा बल्कि विश्वविद्यालयी स्तर पर प्रशिक्षण और शोध का काम अपनी भाषा में ही किया जाने लगा। परन्तु अलग-अलग नस्ल के और अलग-अलग पारंपरिक संस्कारों वाले विविधभाषी यहूदियों को समरस नागरिक पहचान दिलाने की चुनौती बड़ी विकट थी। अश्वेत यहूदियों को श्वेत अंग्रेजीभाषी साक्षर यहूदी समकक्ष नहीं समझते थे और आरंभिक सहानुभूति और आदर्शवाद का दौर

समाप्त होने के बाद इनके साथ भेदभाव होने लगा जिससे सामाजिक असंतोष पैदा हुआ।

इससे भी बड़ी समस्या उन फिलीस्तीनियों की है जो इज्राइल में रह रहे हैं। 1967 और 1973 के युद्ध में जीत के बाद इज्राइल ने अपनी सामरिक सुरक्षा की दृष्टि से जिस अरब भू-भाग पर कब्जा किया उसे खाली नहीं किया और यहां रहने वाले फिलीस्तीनी अरब इच्छा से ही उसके शासन में रहने को मजबूर हुये। इन्हें दूसरे दर्जे की नागरिकता के अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। इस कारण इनमें असंतोष स्वाभाविक था। 1960 के दशक के मध्य ये यासिर अराफात के नेतृत्व में फिलीस्तीनियों ने इज्राइल को सबक सिखाने के लिये आतंकवाद का सहारा लिया और कुछ वर्षों के लिये ऐसा लगने लगा कि इज्राइल इस चुनौती का सामना नहीं कर सकेंगा। 1968 के म्युनिख ओलंपिक खेलों में म्युनिख में इज्राइल खिलाड़ियों की निर्मम हत्या ने सरकार को दहला दिया। इसके बदले में इज्राइलियों ने एक के बदले दस को मारने की रणनीति अपनाई और ईट का जवाब पत्थर से नहीं, बल्कि गोलियों और मिसाइलों से देना आरंभ किया। तब से अबतक यह सिलसिला जारी है।

फिलीस्तीनी अरब अपनी भाषा में इस मुक्ति संग्राम को इन्तीफादा का नाम देते हैं और सबसे त्रासद विडंबना यह है कि इज्राइल के पड़ोसी अरब राज्यों में शरण लेने वाले फिलीस्तीनियों को भी लगभग उसी तरह के उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता रहा है, जैसा इज्राइल में। इसका एकमात्र अपवाद संभवतः लेबनान है जहां हिजबुल्ला पार्टी के संरक्षण में फिलीस्तीनी अपने प्रति इज्राइली अत्याचारों का बदला लेने के लिये कुछ कर सकते हैं।

अनवर सादाद के साथ कैम डेविड वाले समझौते के बाद यह आशा जगी थी कि शायद इज्राइल अब अरबों के साथ और अरब इज्राइल के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये तैयार हो जायेंगे, पर सादाद की हत्या ने इस आशा को निर्मूल साबित किया। लेखक को इस बात का श्रेय

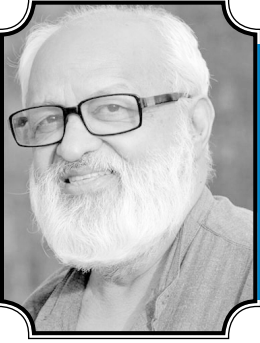
दिया जाना चाहिए कि स्वयं यहूदी और इज्राइली होने के बावजूद कहीं भी पक्षधरता का प्रदर्शन नहीं किया है।

इस पुस्तक में 18 अध्याय हैं और एक उपसंहार। पहले 7 अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं जो आज के इज्राइल को समझने में बेहद मददगार है। इन अध्यायों की सामग्री से यह पता चलता है कि इस राष्ट्र के संस्थापकों की सोच और सपने क्या थे? 8वाँ अध्याय इज्राइल के जन्म की प्रसव वेदना का बखान करता है और राष्ट्र से राज्य के रूप में उसके रूपांतरण का वर्णन। अगले 6 अध्यायों में अरबों के साथ लड़े युद्ध का घटनाक्रम और उनके परिणामों का विश्लेषण किया गया है। 15वें से लेकर 17वें अध्याय तक इज्राइल की आंतरिक राजनीति में पीढ़ीगत सत्ता हस्तांतरण और सोच में बदलाव का सर्वेक्षण किया गया है। लेखक इस मामले में संवेदनशील है कि इज्राइल की आज की नौजवान पीढ़ी अपने पुरखों की नज़र से इज्राइल के राष्ट्रहित को परिभाषित नहीं करती। आधा सदी से अधिक लगातार युद्धरत रहने की मानसिकता से वह मुक्त होना चाहती है। वह न तो कड़े सैनिक अनुशासन में अपना जीवनयापन करना चाहती है और नहीं अपने लिये मानवाधिकारों की मांग करते वक्त बेघर फिलीस्तीनियों या फिलीस्तीनी अधिकरण के अधिकार क्षेत्र में रहने वाले फिलीस्तीनियों को उनके अधिकारों से वंचित रखने में भागीदार बनना चाहती है। आज की इज्राइली राजनीति में कट्टरपंथियों और उदार तत्वों का द्वंद्व साफ झलकता है। स्थापना से आजतक के इज्राइली अनुभव का संशोधनवादी विश्लेषण करने वाले यहूदी इतिहासकारों की कमी नहीं। नौजवान पीढ़ी के यहूदियों का मानना है कि अपने अरब पड़ोसियों के साथ सहज सामान्य संबंध बनाकर ही इज्राइल खुशहाल, निरंतर प्रगतिशील और निरापद रह सकता है।

पर यह आशा करना यथार्थवादी नहीं लगता कि निकट भविष्य में ऐसा संभव है। भले ही

पुराना शीतयुद्ध समाप्त हो चुका है परन्तु अमेरिका और रूस के बीच मुठभेड़ जारी है। सीरिया और इराक में अमेरिकी हस्तक्षेप के बाद जो सत्ता परिवर्तन हुआ है उसके बदले में जो कार्यवाही ईरान, लेबनान ने की है, उसने मध्यपूर्व में तेल की राजनीति को बहुत बदल दिया। इससे ना तो इज्राइल अप्रभावित रह सकता है और नहीं फिलीस्तीनी। पुस्तक के 18 वें अध्याय में लेखक इस बात का परीक्षण करता है कि यहूदी पुनर्जागरण के लिये क्या यहूदी राज्य ही अनिवार्य है? उपसंहार में उसने एकसाथ पुनवरावलोकन और भविष्योनमुखी आकलन का प्रयास किया है। पुस्तक में जटिल राजनैतिक और सैनिक घटनाक्रम को समझने के लिये बहुत सारे नक्शे हैं, तालिकायें और पारिवारिक शब्दावली। जो पाठक किसी भी विषय का अध्ययन अधिक विस्तार से करना चाहते हैं, उनके लिये विस्तार से पाद-टिप्पणियां और संदर्भ ग्रंथों की सूची तथा अनुक्रमणिका सलंगन है। पुस्तक में बहुत सारे दुर्लभ श्वेत श्याम और रंगीन चित्र हैं जिनका खासा दस्तावेजी महत्व है। चित्र भले ही छोटे आकार में छापे गये हैं पर इन्हें पुस्तक की सामग्री का अभिन्न पूरक अंग समझा जाना चाहिए। इनको देखते हुए ऐसा लगता है कि आप किसी संवेदनशील फिल्म निर्माता की बनाई कोई डॉक्यूमेंट्री देख रहे हैं।

इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए एक आलोचक ने यह टिप्पणी की थी कि यदि आपको किसी पाठक को इज्राइल के बारे में सबकुछ संक्षेप में और अच्छी तरह समझने के लिये एक पुस्तक बतानी हो तो सिर्फ इसी पुस्तक का नाम लेना काफी होगा। इन पंक्तियों के लेखक की राय में भी यह टिप्पणी बिल्कुल सटीक है। प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए इज्राइल और मध्यपूर्व के सामयिक घटनाक्रम को समझने के लिये इससे बेहतर कोई जरिया नहीं हो सकता। यह पुस्तक सरस शैली में लिखी गई है और पठनीय है।



प्रो. पुष्पेश पंत

दू मेकिंग ऑफ इंडियन डिप्लोमेंसी/ ए क्रिटिक ऑफ यूरो सेन्ट्रीसीज़म

लेखक : दीपके दत्तारे

भारतीय विदेशनीति और राजनय पर इतनी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं कि जब कभी कोई नई पुस्तक प्रकाशित होती है तो उसके बारे में सबसे पहला सवाल यह उठता है कि इसे लिखने और छपवाने का लालच लेखक ने क्यों किया या इसका प्रयोजन क्या है? इस विषय की पुस्तकों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है विशेषज्ञ, शोधकर्ताओं द्वारा लिखी विश्लेषणात्मक रचनाएं-शोध प्रबंध और निबंधों के संकलन अनुभवी अवकाश प्राप्त राजनयिकों के संस्मरण तथा महत्वपूर्ण राजनेताओं की जीवनियां, संस्मरण और दस्तावेजी पत्राचार। हाल के वर्षों में अनेक ऐसे पत्रकार प्रकट हुए हैं जिनकी विशेषज्ञ शोधकर्ता के रूप में दावेदारी प्रबल है और जिन्हें करीब से नीति-निर्धारण और राजनय को देखने-परखने का तथा हाशिए से ही सही उसमें भाग लेने का मौका भी मिला है। इनमें डॉक्टर सी. राजामोहन, डॉक्टर संजय बारू, डॉक्टर हरीश खरे आदि प्रमुख हैं। विदेश संवाददाता के रूप में अमेरिका तथा पाकिस्तान में तैनात भरत और विनोद शर्मा के नाम इस सिलसिले में उल्लेखनीय हैं। पूर्व विदेश सचिव रह चुके शिव शंकर मैनन और श्याम शरण की पुस्तकें भी चर्चित रही हैं। नटवर सिंह, जसवंत सिंह और जगत महता के संस्मरण भी

श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल से आज तक की भारतीय विदेशनीति और राजनय पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इसके अलावा देशी-विदेशी लेखकों ने भारत-पाक संबंधों पर भारत-चीन विवाद और इनके बीच सहकार की संभावना के अतिरिक्त भारत की परमाणविक नीति उदीयमान शक्ति के रूप में उसका उभरना आदि का विस्तार से वर्णन-विश्लेषण किया है।

भारत के अभिलेखाकारों में जो सामग्री अभी तक गोपनीय समझी जाती है उसका बड़ा हिस्सा विदेशी पुस्तकालयों में सार्वजनिक रूप से सुलभ है। इतने प्रमाणिक स्रोतों के सुलभ होने के बाद यह दावा करना कठिन है कि व्यक्तिगत, अनौपचारिक साक्षात्कारों के आधारों पर कोई लेखक नहीं अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सकता है।

इस पुस्तक के लेखक का मानना है कि उनकी यह रचना इसलिए अनूठी है कि वह पहले युवा शोधकर्ता है जिसका 'बीजारोपण' औपचारिक रूप से विदेश मंत्रालय में हुआ था। इसके पहले वह ब्रिटेन में शोध कर रहे थे और इस सिलसिले में भारतीय विदेशनीति और राजनय संबंधी प्रामाणिक प्राथमिक स्रोत हासिल करने में उन्हें काफी कठिनाई महसूस हो रही थी। लेखक के पिता बरसों पहले स्टेट्समैन नामक (तब

प्रभावशाली) अंग्रेजी अख़बार के संपादक रह चुके हैं। इसके बाद कई वर्ष तक सिंगापुर से प्रकाशित होने वाले स्टेट टाइम्स के संपादक भी रहे हैं। यह सब पृष्ठभूमि बतलाना इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह बात समझी जा सके कि लेखक की पहुंच सत्ता प्रतिष्ठान तक दुष्कर कभी भी नहीं रही।

पुस्तक को 7 अध्यायों में बांटा गया है जिनके शीर्षक सायास रोचक और कुतुहलपूर्ण बनाने की कोशिश की गई है। जैसे डिलुसिव यूटोपिया, इरीप्रेसेबल थेराइजिंग द अनकेन्टेबेन, इनवॉटेड हिस्ट्री, डैथ ऑफ डिप्लोमेंसी, डिप्लोमेंसी रिबोन, वायलेंस ऑफ इगरोनेन्स। उपशीर्षक भी पहली बूझाते से ही लगते हैं जैसे रिफैक्सीविटी एण्ड सिविलाइजेशन, स्टक्चर ऑफ स्टक्चर्स, अनस्पैकओक्यूलर सफरिंग, टूडेस किट दि महाभारत। विशेषज्ञों द्वारा जटिल पारिभाषिक शब्दाडम्बर को जागन का नाम दिया जाता है। इस पुस्तक का लेखक इस बोझ के तले बुरी तरह दबा नज़र आता है। उसका प्रयास यह प्रदर्शन लगता है कि किसी पाठक को उसकी पढ़ाई-खिलाई के बारे में कोई संदेह ना रह जाए। पुस्तक की मुख्य सामग्री कुल 270 पेजों की है और पाद टिप्पणियां तथा संदर्भ ग्रंथों की सूचियां आदि 100 पन्नों में फैले हैं।

लेखक ने पहले दो अध्यायों में अपने शोधकार्य को आधुनिक राजनय के (जिसकी विरासत मूलतः यूरोपीय है) और बर्तानवी शासनकाल में गठित भारतीय विदेश मंत्रालय की संरचना (प्रशासनिक ढांचे, भारतीय राजनयिकों के विश्व दर्शन आदि के संदर्भ में रखने का प्रयास किया है) इसमें कुछ भी ऐसा नहीं जिससे कोई साक्षर राजनीतिशास्त्र का छात्र अपरिचित हो। तीसरा अध्याय जो लगभग 30 पन्नों का है अपेक्षाकृत अधिक दिलचस्प कहा जा सकता है जिसमें महाभारत वाली धर्म की व्याख्या को भारत की विदेशनीति और राजनय के साथ जोड़ने का प्रयास है। लेखक की जानकारी न तो प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में यथेष्ट लगती है और नहीं महाभारत के पाठ और उसकी व्याख्या के दूसरे लेखकों की प्रामाणिक रचनाओं की जानकारी झलकती है। बहुत ही व्यापक सरलीकरण इस हिस्से को लचर और कमजोर बनाते हैं। नीति आयोग के सदस्य विवेक देवरॉय ने अभी हाल में महाभारत का एक प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित करवाया है। जिससे यह बात साफ पता चलती है कि महाभारत में धर्म की कोई एक परिभाषा या एक अवधारणा नहीं मिलती। श्रीमद् भगवत गीता में कृष्ण अर्जुन को एक उपदेश देते हैं तो शांतिपूर्व में शरशैया पर लेटे भीष्म पितामाह का प्रवचन इससे इतर दूसरे विषयों को भी समेटता है। जब भीष्म यह उपदेश दे रहे होते हैं तब द्रोपदी हँस पड़ती है पूछे जाने पर जबाब देती है कि पिताहमाह का नीति और धर्म विषयक यह ज्ञान तब कहाँ रह गया था जब भरी सभा में मेरा चीर-हरण हो रहा था। अर्थात् महाभारत में लगभग हरपात्र ने आपातकाल में धर्म के अनुसार आचरण नहीं किया या धर्म की देशकाल सापेक्ष व्याख्या अपनी जरूरत के अनुसार की। बिना अनावश्यक विस्तार के यहां यह जोड़ने की जरूरत है कि गुरुसरनदास जैसे लेखकों ने दीपके दत्ताराय के अधिकचरे सरलीकृत सामानीकरणों से कही अधिक सारगर्भित टिप्पणियां इस सिलसिले में की है।

इसके पहले प्रसिद्ध इतिहासकार, राजनयिक और पंडित नेहरू के सलाहकार केएम पाणिकर ने भी महाभारत में श्रीकृष्ण के कोरवों के पास पांडवों के दूत के रूप में जाने के प्रकरण का बहुत विस्तार से उत्कृष्ट और विश्लेषण किया है। डिप्लोमेंसी प्रिन्सिपल्स एण्ड पैक्टिस नामक उनकी प्रसिद्ध पुस्तक (जो विचारोत्तेजक भाषणों का संग्रह है) अब दुर्लभ है और शायद इसी से लेखक का यह दुस्साहस इसी कारण हुआ है कि वह महाभारत विषयक अपने अध्ययन के निष्कर्षों को मौलिक स्थापना के रूप में पेश करे।

पुस्तक का चौथा अध्याय मुगल शासन को शीर्षासन कराता नज़र आता है। इसमें भारतीय-मुगल साम्राज्य के रूप में राजनय की तर्कसंगति और 'वास्तविक' यूरोपीय राजनय के भारत में आगमन का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में लेखक का अधिकचरा ज्ञान और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की आधी-अधूरी समझ और भी बुरी तरह प्रतिबिंबित होती है। सबसे पहली बात तो यह है कि दत्तारे के लिए मुगले आजम अकबर महान ही मुगल राजनीति तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और राजनय का प्रयाय है। उनके लिए जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब इस संदर्भ में कोई मायने नहीं रखते। बाबर और हुमायूँ का जिक्र भी जरूरी नहीं समझा गया है। इस समय भारत में अनेक महत्वपूर्ण यात्री आए और उन्होंने मुगल दरबार में अपनी हाजरी भी लगाई। परन्तु इन मुलाकातों को राजनयिक नाम देना बहुत अटपटा लगता है और न ही यह दावा किया जा सकता है कि तत्कालीन राजनयिक शैली से भारतीय प्रभावित हुए। जिस 'वास्तविक' यूरोपीय राजनय का जिक्र लेखक करता है वास्तव में उसका विकास 18 वीं 19 वीं सदी में हुआ। भले ही राष्ट्र-राज्य का उदय वैस्टफालिया की संधि के साथ हो चुका था, परन्तु जिसे यूरोपीय इतिहास में क्लासिकी राजनय माना जाता है उसका विकास 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों

के बाद ही हुआ। यूरोपीय राजनय के इतिहास में तोकवी, तालिरां, मैटरनिख, कैसलरी, कैनिंग और पामस्टर्न के नाम बेहद महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इन्होंने ही उस राजनय का शिलान्यास किया जिसको अपनाकर कावूर ने ईटली का एकीकरण किया और बिस्मार्क ने जर्मनी का। महाशक्तियों की अवधारणा शक्ति संतुलन का सिद्धांत और संधियों पर आधारित शांति व्यवस्था वाला गुप्त और यथार्थवादी राजनय इन्हीं लोगों द्वारा आरंभ किया गया था। इस पूरे दौर का बेहतरीन अध्ययन कई दशक पहले हैन्डी किसिन्जर अपनी पी. एच.डी वाले शोध प्रबंध में कर चुके हैं जो बाद में पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया गया जिसका शीर्षक था- 'ए वर्ल्ड रेस्टोर्ड'। अनेक यथार्थवादी चिंतक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में यूरोपीय राजनीति के इस स्वर्ण युग की कसौटी पर कस कर ही करते हैं। इन विद्वानों में हांसमोर्गन्थों अग्रणी है और भारत में भी इस परंपरा को भरत करनाड जैसे लोगों ने इस परंपरा का निर्वाह किया है। विडंबना यह है कि जितना सतही ज्ञान लेखक को भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास का है उससे ज़्यादा गहरी पेट उनकी यूरोपीय इतिहास की भी नहीं।

दीपके दत्तारे का मानना है कि वह आधुनिक भारतीय राजनय की जड़े भारतीय सभ्यता और संस्कृति में तलाश कर रहे हैं और जातीय स्मृतियों और सांस्कृतिक मूल्यों का प्रभाव इस राजनय में विश्लेषित कर रहे हैं। उन्हें यह बात नहीं सूझती कि भारत में मुगलों के आने के पहले तुर्क अफगान सुल्तानों का राज कई सदी तक चला था और यह वह दौर था जब तुर्की का सुल्तान खुद को सभी मुसलमान शासकों का खलीफा मानता था। उसी के अनुमोदन के बाद यह सुल्तान अपने इस्लामी शासन को वैधानिक घोषित करते थे। इस खिलाफत के असर के कारण ही तुर्की में कमाल अतातुर्क की क्रांति के बाद उसके प्रतिरोध में एक आन्दोलन आरंभ

हुआ था जिसका समर्थन गांधी जी की प्रेरणा से भारतीय कांग्रेस ने भी किया। यहां एकबार फिर इस विषय पर विस्तृत टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है और नहीं इसकी जगह है। तब भी यह रेखांकित करना बेहद जरूरी है कि यह वह दौर था, जब तुर्की को यूरोप का लाइलाज बीमार कहा जाता था और पूरे अरब जगत में गौरवपूर्ण इस्लामी साम्राज्यवाद का अस्त हो रहा था। कभी चीन की सरहद से स्पेन तक अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके इस्लामी शासक पस्त-परास्त हो चुके थे और काहिरा, बगदाद, दमिष्क जैसे शहर अपनी चमक-दमक खो चुके थे। इसके बावजूद यूरोप की बड़ी शक्तियां औपनिवेशिक विस्तार के दौर में शक्ति समीकरणों को संतुलित करते वक्त न तो तुर्की को अनदेखा कर सकती थी और नहीं उसके मददगारों को। औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता सिर्फ ब्रिटेन और फ्रांस के बीच में ही नहीं थी, जर्मनी-इटली और पुर्तगाल भी इसका हिस्सा थे।

सरदार के.एम. पाणिक्कर ने ही एक और अच्छी पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक है— एशिया अन्डर वेस्टर्न डॉमिनेन्स। इसमें विस्तार से 18-19 वीं सदी में यूरोपीय ताकतों के बीच एशिया में शक्ति संघर्ष का वर्णन-विश्लेषण किया गया है। अपनी पुस्तक के एक अध्याय को दीपके दत्ता ने मुगलकाल पर केन्द्रित रखा है, पर वह इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ जान पड़ते हैं कि अकबर महान के शासनकाल में भी मुगल साम्राज्य की सीमाएं भारतीय उपमहाद्वीप के एक हिस्से तक ही सीमित थी। दक्षिण में मुगल ताकत औरंगजेब के काल में ही पहुंच सकी और सागर तटवर्ती इलाके में नौसैनिक शक्ति के अभाव में मुगल बादशाह भी हजयात्रा पर निकले शाही परिवार के सदस्यों की हिफाजत के लिए पुर्तगाली फैक्टरों और स्थानीय शासकों से 'अनुमति' लेते थे।

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारतीय उपमहाद्वीप में चार-पांच क्षेत्रीय शक्तियां संप्रभुता का दावा करने लगी और इनमें पूरे भारतवर्ष पर

अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए संघर्ष चलता रहा। उत्तर पश्चिम में सिख तथा पाश्चिम में मराठे, दक्षिण में हैदराबाद वाले इलाके में निजाम तथा मैसूर में हैदर अली और उनके पुत्र टीपू सुल्तान के अलावा दिल्ली के आस-पास जाट सक्रिय थे। अंग्रेजों, फ्रांसीसी के बीच की लड़ाई का जिज्ञासा किया जा चुका है। भारत के राजनीति अस्थिरता का लाभ उठाकर गोरखाओं ने कुमाऊं-गढ़वाल और हिमाचल प्रदेश पर हिमालयी इलाके के बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया था। इन संप्रभु राज्यों के बीच सैनिक संघर्ष के साथ-साथ राजनयिक संपर्क भी साधे जाते थे। इनमें से जो राज्य अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहे थे उनके सिपह-सालार और सलाहकार गैर बर्तानवी यूरोपीय भी थे। अतः यह सुझाना तर्कसंगत है कि यूरोपीय राजनय के कम से कम थोड़ी बहुत काम चलाऊ जानकारी इनको थी। टीपू के राजनय पर तो एक शोधकर्ता ने एक पुस्तक भी प्रकाशित करवाई है।

इस बात को दोहराने की भी जरूरत नहीं होनी चाहिए कि दक्षिण भारत में जो चोलो, पल्लवों और पाण्ड्यों जैसे महान साम्राज्य रहे हैं, उनके अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का इतिहास काफी पुराना है। दक्षिण पूर्व एशिया में ही खमेर (आज का कम्बोडिया) शैलेन्द्र और श्री विजय (आज का इन्डोनेशिया) तथा चंपा फुनान (आज का वियतनाम) आदि देश राजनयिक-सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय समझे जाते हैं। किसी व्यापक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक भारतीय राजनय की जड़े तलाशने का कोई भी प्रयास इसकी अनदेखी नहीं कर सकता।

पांचवां अध्याय अनावश्यक रूप से सनसनीखेज शीर्षक वाला है— डैथ ऑफ डिप्लोमेसी। तिल का ताड़ बनाने वाले अदांज में लेखक राजनय को युद्ध के रूप में और ऐसे राजनय में रण संचालन की शैली पर टिप्पणी करता है जिसमें सफलता हार-जीत से आंकी जाती है, सुलह या समझौते से नहीं। यहां भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है।

प्रसिद्ध चीनी चिंतक और रणनीति विशारद शुनजुं की इस विशेष में टिप्पणियां ना केवल सारगर्भित हैं, बल्कि आज भी सार्थक हैं। यही बात आधुनिक समर विद्या विशारद क्लोसविज्ज के बारे में भी कही जा सकती है जिनका मानना था कि युद्ध दूसरे माध्यम से अपनी नीतियों को क्रियान्वित करना है। तब से अबतक अनेक विद्वान यह सुझा चुके हैं कि राजनय भी दूसरे माध्यम से युद्ध को जारी रखना है।

जब लेखक आधुनिक पश्चिमी राजनय की बात करता है तो पता नहीं क्यों उसकी घड़ी की सूइयां 18-19 वीं सदी के राजनय में ही अटकी रहती हैं। रूसी क्रांति के बाद और खासकर दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद शीतयुद्ध के युग में परमाणविक शस्त्र संपन्न महाशक्तियों के उदय ने शक्ति संतुलन के सिद्धांत को आतंक के संतुलन में बदल दिया और द्विध्रुवीय विश्व में संधियों सैनिक संगठनों में विभाजित जगत में गुटनिरपेक्ष नवोदित राज्यों ने राजनय की पारंपरिक अवधारणाओं को अमूल-चूल बदल डाला। भले ही इस पुस्तक का शीर्षक द मेकिंग ऑफ इंडियन डिप्लोमेसी है, पर यथार्थ में यह चू-चू का मुरब्बा जान पड़ती है। जिसमें जहां-तहां से उठाई सामग्री बेतरतीब बिखरी पड़ी है जिसका एकमात्र लक्ष्य लेखक के पांडित्य का प्रदर्शन जान पड़ता है। शब्दा-डंबर के कारण पुस्तक पठनीय भी नहीं रह गई। तब सवाल यह उठता है कि फिर इस पुस्तक को समीक्षा के लायक समझा ही क्यों जा रहा है?

पुस्तक के छठे और सातवें अध्याय में लेखक ने महात्मा गांधी और उनके पट्ट शिष्य तथा राजनैतिक उत्तराधिकारी नेहरू के विश्व दर्शन और हिन्दू धर्म की उनकी अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में आजादी के बाद भारतीय राजनय का सर्वेक्षण-विश्लेषण किया है। यहां दो बातों का उल्लेख तत्काल परमावश्यक है। गांधी का देहांत 1948 के आरंभ में हो गया था और यह कहना कठिन है कि उनकी सत्याग्रह और अहिंसा की

विरासत स्वाधीन भारत के शासकों के लिए प्रमुख प्रेरणा स्रोत रही है। यह सच है कि नेहरू ने बड़े श्रम से अपने जीवनकाल में आदर्शवादी-सैद्धांतिक छवि प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की थी और उनके कई आलोचक उनकी विदेशनीति को व्यावहारिक यथार्थवाद के अभाव में असफल समझते रहे। स्वयं नेहरू ने एकबार यह टिप्पणी की थी कि आज का आदर्शवाद भविष्य का यथार्थवाद है। यदि इस कथन से सत प्रतिशत सहमत न भी हुआ जाए, तब भी यह सुझाना तर्कसंगत है कि नेहरू सच्चे मायने में गांधीवादी सत्याग्रही नहीं थे। नेहरू के अनेक जीवनीकारों ने उन्हें आखिरी मुगल या अंतिम अंग्रेज औपनिवेशिक प्रशासक के रूप में पेश किया है। जहांतक भारत के दो प्रमुख बैरियों का प्रश्न है (चीन और पाकिस्तान) दोनों का ही यह मानना है कि नेहरू आदर्शवादी कथनी के पीछे घनघोर यथार्थवादी करनी का अनुसरण करते थे। गोवा को सैनिक बल से मुक्त कराना हो या नेपाल में राजनयिक हस्तक्षेप इसी के उदाहरण समझे जाते हैं। अभी हाल में उपेन्द्र सिंह ने प्राचीन भारत में राजनैतिक हिंसा नामक एक पुस्तक में अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भारत की अहिंसक संस्कृति और मूल्यों का मिथक गांधी और नेहरू ने ही निर्मित किया था। उनका तो यहां तक मानना है कि भारत की आजादी की लड़ाई का जो इतिहास नेहरू के सत्तारूढ़ होने के बाद लिखा गया उसमें जानबूझकर उन स्वतंत्रता सेनानियों के इतिहास की उपेक्षा की गई है जिन्होंने सशस्त्र संघर्ष से उपनिवेशवाद का विरोध किया था। हथियारबंद क्रांति की यह लंबी परंपरा भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद से लेकर नेताजी सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज और 1946 की नौसैनिक क्रांति तक अविरल देखी जा सकती है।

लेखक की सबसे बड़ी नादानी गांधी के राजनैतिक सभी क्रियाकलापों को एक ही कलात्मक शैली का उदाहरण समझना और इसी रूप में उसका विश्लेषण करने का प्रयास है। अंग्रेजों के

साथ अपने संघर्ष में गांधी की रणनीति अनेक बार बदली और उनका समस्त जीवन सत्य की शोध में बीता। सत्य उनके लिए ईश्वर का प्रयाय था और उनके व्यक्तिगत जीवन की आध्यात्मिकता ही उनके राजनैतिक हस्ताक्षरों को करती थी। उनके करिश्माई व्यक्तित्व से प्रभावित उनके अनुयायी नेहरू तथा अन्य लोग उनकी सभी बातों से हमेशा सहमत नहीं रहे। यह कहना कि गांधी द्वारा धर्म का बारंबार उल्लेख सिर्फ भारतीय संस्कृति के मूल्यों का पुनरुल्लेख था, गलत होगा। गांधी की आध्यात्मिकता के मूल्य ईसाइयत और इस्लाम से भी बहुत कुछ ग्रहण करते थे। अतः लेखक का यह सुझाना कि पाकिस्तान और चीन के साथ बारंबार भड़काये जाने पर भी भारत का संयम बरतना गांधीवादी सत्याग्रह का ही उदाहरण है, बेहद बचकाना है। अंतिम अध्याय अज्ञान की हिंसा (वालेन्स ऑफ इगरोनेस) भी इसी कड़ी का अगला हिस्सा है। सिवाए लफ्फाजी के इसमें कुछ सार नहीं। निष्कर्ष अलग से हैं जिसका शीर्षक है शक्ति संघर्ष की छाया में और उपशीर्षक है राम-राज्य का बौद्धिकरण। दत्तारे वर्षों विदेश में रहे हैं, वहीं पढ़े-लिखे हैं, और शायद इसी कारण उन्हें कुछ शब्द अपने मोहपाश में बांध लेते हैं जिनके अर्थ का अनर्थ वह अपने अनुवाद से कर देते हैं। इन्हीं में राम-राज्य एक है। गांधीजी बार-बार अपने भाषणों और लेखों में राम-राज्य शब्द का प्रयोग करते थे। मगर लेखक ने यह समझने का प्रयत्न नहीं किया है कि राष्ट्रपिता का अभिप्राय क्या था। गांधी जी के लिए राम-राज्य समतापूर्ण समाज और विकेन्द्रीकृत ग्राम स्वराज पर आधारित स्वावलंबी न्यायसंगत वैधानिक व्यवस्था को स्थापित करना था। ऐसा जान पड़ता है कि दत्तारे इस राम-राज्य में और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में परिभाषित विजीगिशु छत्रपति के अधिकार्य क्षेत्र में फर्क करने में असमर्थ रहे हैं। किसी राज्य का भौगोलिक विस्तार और वहां के निवासियों का संस्कार जिस राष्ट्र के रूप में पहचाने जाते हैं उसे अनायास भारत नामक राष्ट्र-राज्य के रूप में नहीं पहचाना

जा सकता। आज भी भारत की भूमि में अनेक उपराष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं मुखर होती रही हैं।

पुस्तक के लेखक को गंभीरता से कुछ पाठक सिर्फ इसलिए लेंगे कि पुस्तक का प्रकाशन एक प्रसिद्ध विद्वान ने किया है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इतनी सतही और गलतफहमी पैदा कर सकने वाली पुस्तक को ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने प्रकाशन योग्य समझा है। पुस्तक का उपशीर्षक यूरोप परक-यूरोप केन्द्रित भारतीय राजनय की समालोचना रखा गया है, पर इसका कोई उल्लेख किसी एक अध्याय में सम्यक तरीके से नहीं मिलता। पुस्तक जिन व्यक्तियों के साथ साक्षात्कार पर आधारित सलरीकृत निष्कर्षों को पाठक पर थोपती है, वह सभी यू.पी.ए. सरकार में कार्यरत थे, जब लेखक को विदेश मंत्रालय में शोधकर्ता के रूप में, औपचारिक रूप से नियुक्त किया था। तब से अबतक मनमोहन सिंह की राजनयिक 'उपलब्धियाँ' लगभग विस्मृत हो चुकी है। अमेरिका के साथ परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग वाला समझौता भारतीय राजनय का नींव की पत्थर नहीं समझा जाता। चीन और रूस के साथ संबंधों में बहुत बड़ा बदलाव आ चुका है। ब्रिटेन के यूरोपीय समुदाय से बाहर चले जाने के बाद यह हठ पालना मतमंदाता का लक्षण होगा कि भारतीय राजनय को यूरोप केन्द्रित माना जाए। लेखक अपने पक्ष में यह तर्क दे सकता है कि उसकी दृष्टि व्यापक ऐतिहासिक फलक को समेटने वाली रही है, समसामयिक घटनाक्रम पर नहीं। इन पंक्तियों के लेखक का मानना है कि भारतीय इतिहास और परंपरा संस्कृति आदि का ठीक से अध्ययन किये बिना आत्मगुध, अति महत्वाकांक्षी लेखक विशेषज्ञ ही नहीं सामान्य पाठक को भी सन्तुष्ट करने में बुरी तरह असफल रहा है। हां, गांधी और नेहरू के संबंध में धर्म, अहिंसा और सत्याग्रह के विषय में जो टिप्पणियां की गई हैं वह पाठकों को इस विषय में अन्यत्र अधिक प्रमाणिक जानकारी तलाश करने के लिए प्रेरित कर सकती है।



पुस्तक इंडियन नेशनलिज्म / दि इशियन्सल राइटिंग्स

लेखक : एस. इरफान हबीब

मणिकांत सिंह

हाल के दिनों में राष्ट्रवाद के मुद्दे पर एक विस्फोटक बहस हमारे देश में गरमाती रही है। राष्ट्रवाद को देश प्रेम के साथ जोड़ा जा रहा है और लगभग उसका पर्याय मान लिया गया है। कम से कम आम आदमी के लिए यह फर्क करना कठिन होता जा रहा है कि राष्ट्रवाद और देश प्रेम में समानता या अन्तर क्या है? इससे भी चिंताजनक बात यह है कि देशप्रेम, देशद्रोह और राजद्रोह की अवधारणाएं भी आपस में बुरी तरह गड्ढ-मड्ढ हो चुकी है। जो व्यक्ति सरकार की आलोचना करता है, वह राजद्रोह ही मान लिया जाता है और राजद्रोह को देशद्रोह प्रमाणित करने के बाद किसी पर भी गद्दारी का लांछन लगाया जा सकता है। अब सवाल यह उठता है कि इस सब में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता की जगह कहां बचती है। यह तमाम सवाल पिछले चार वर्ष से ही ज़्यादा विकट रूप से सतर्क नागरिकों को परेशान करने लगे हैं, शायद इसका कारण यह है कि मोदी जिस पार्टी के नेता है, उसे उग्रराष्ट्रवादी राजनैतिक दल समझा जाता है और यह आरोप लगाना सहज है कि सरकार अपनी असफलताओं को छिपाने के लिए अंधराष्ट्रभक्ति या आक्रामक राष्ट्रवाद का नारा बुलंद करती है। इसी के साथ जुड़ी एक अड़चन और है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष

गणराज्य है यदि राष्ट्रवाद की धारणा को किसी एक धर्मविशेष के साथ जोड़ा जाता है तो इसमें न केवल भारत के अल्पसंख्यक नागरिकों को आपत्ति है, बल्कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता से मुक्त सभी उदार जनतांत्रिक तत्वों को यह बात असह्य लगती है। यहां इस बात को रेखांकित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि भारतीय जनता पार्टी का घनिष्ठ संबंध राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से है जो एक कट्टरपंथी हिन्दू संगठन है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ बारंबार यह बात स्पष्ट कर चुका है कि वह एक सांस्कृतिक संस्था है जिसकी कोई दिलचस्पी राजनीति में नहीं। पर इस बात को यथावत स्वीकार करना असंभव है। अतीत में कई बार ऐसा हुआ है जब राजनैतिक दल जनसंघ या भारतीय जनता पार्टी ने भी अपने चुनाव घोषणापत्र या न्यूनतम साझा कार्यक्रम के विषय में राष्ट्रीय स्वयं संघ के नेताओं से दिशा-निर्देश ग्रहण किये हैं। आपातकाल के बाद जनता सरकार के पतन का मुख्य कारण यही रहा था कि भाजपा के सदस्यों ने अपनी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सदस्यता से इस्तीफा देने से इंकार कर दिया था। इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि भाजपा के साधारण कार्यकर्ता ही नहीं, चोटी के नेता भी- अटल बिहारी वाजपेयी लालकृष्ण आडवाणी और

मुरली मनोहर जोशी आदि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रचारक या कार्यकर्ता रह चुके हैं।

वास्तव में यह बहस आजादी की लड़ाई से भी अधिक पुरानी है कि राष्ट्रवाद राष्ट्रीय पहचान और देश प्रेम क्या धार्मिक ही या धर्मनिरपेक्ष भी हो सकते हैं? भारत में ही नहीं दुनिया के अनेक देशों में राष्ट्रवाद का उदय उपनिवेशवाद विरोध और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के दौरान हुआ। गोरे उत्पीड़क शासकों की गुलामी से मुक्त होने के लिए जो लड़ाई लड़ी गई उसमें अपनी प्राचीन या मध्ययुगीन 'राष्ट्रीय' पहचान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। देश प्रेम राष्ट्र प्रेम का प्रयाय बन गया। यहां यह याद रखने की जरूरत है कि भारतीय परंपरा में या एशिया में अन्यत्र भी राष्ट्र का अर्थ राष्ट्र-राज्य (नेशन स्टेट) कभी नहीं रहा। जन्मभूमि, मातृभूमि या पितृभूमि जैसे शब्द भूगोल के साथ जुड़े हैं, पर राष्ट्र या कौम को परिभाषित करती है- सांस्कृतिक पहचान। इसमें साझे की ऐतिहासिक स्मृतियां और भाषा, खान-पान और धर्म की भूमिका निभाते हैं, पर इनमें किसी एक को निर्णायक नहीं समझा जा सकता। विडंबना यह है कि आजादी की लड़ाई के दौरान जब भारत में राष्ट्रीय चेतना का अविर्भाव हुआ, उस वक्त यूरोप में राष्ट्रवाद और राष्ट्र प्रेम का अनुसरण कई

देश प्रेमी स्वतंत्रता सेनानियों ने किया। (इटली के एकीकरण के वक्त यंग इटली की अनुगुंज महात्मा गांधी के समाचार पत्र यंग इंडिया में साफ सुनाई देती है।) फ्रांसीसी क्रांति का स्वर और तेवर सार्वभौमिक थे, पर इसके कुछ ही बाद नेपोलियन के साम्राज्यवादी सैनिक अभियानों ने स्पेन और यूरोप के दूसरे देशों में आक्रमणकारी विजेता के विरुद्ध देश प्रेम को बढ़ावा दिया। ज़ारशाही के दौरान भी रुसियों के देश प्रेम और राष्ट्रवाद ने नेपोलियन को प्रास्त करने में बड़ी भूमिका निभाई।

बहरहाल इस पुस्तक के लेखक ने राष्ट्रवाद के विषय को भारत तक सीमित रखा है और समकालीन राजनीति के ज्वलंत मुद्दों से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। पुस्तक कुल बारह छोटे-छोटे अध्यायों में विभाजित है। भूमिका सारगर्भित है और लगभग चालीस पृष्ठों में संकलित सामग्री का सार-संक्षेप प्रस्तुत करती है। वर्णन विश्लेषणात्मक है और प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए विशेषरूप से उपयोगी है।

पहला अध्याय बहुत छोटा सिर्फ दस पन्नों का है, इसका शीर्षक है प्रारंभिक उदारवादी दृष्टिकोण राष्ट्र और संस्कृति जिसमें जज महादेव गोविंद रनाडे और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के लेख पढ़ने को मिलते हैं। इन दोनों की ही छवि सुधारवादी नेताओं की है।

अगला अध्याय अपेक्षाकृत बड़ा है जिसे शीर्षक दिया गया है- धर्म केंद्रित राष्ट्रवाद। इसमें बाल गंगाधर तिलक, लाला राजपतराम, विपिन चन्द्र पाल, श्री अरविन्दो, मौलाना हुसैन अहमद मदनी और अल्लामा इकबाल के विचार संकलित किये गये हैं। बाल पाल लाल कांग्रेस के गरम दल के नेता रहे और श्री अरविन्दो योगी बनने के पहले बंगाल के क्रांतिकारियों के साथ जुड़े रहे थे। तिलक चितपावन मराठी ब्राह्मण थे तो लाला लाजपतराय आर्य समाज से प्रभावित और प्रेरित थे। विपिन चन्द्रपाल भारतीय राष्ट्रवाद को समर्थ-सक्षम बनाने के लिए बेहिचक हिन्दुधर्म की भूमिका महत्वपूर्ण मानते थे। यहां जिन लेखों को प्रस्तुत किया गया है, वह हमें इन नेताओं

की वैचारिक समानता और उनमें अंतर समझने में सहायता कर सकते हैं। तिलक संस्कृत के और ज्योतिष के विद्वान थे और उन्होंने प्राचीन भारत की पौराणिक मिथकीय परंपरा को वैज्ञानिक साक्ष्यों से पुष्ट करने का, प्रमाणित करने का प्रयास किया था। उनके लेखों में 'हू इज एन एलियन' (बाहरी कौन) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री अरविन्दो राष्ट्रवाद को ही धर्म मानते हैं। जिन दो इस्लामी विचारकों के लेख संकलित हैं वह दोनों इस्लाम के अनुयायी होने के साथ-साथ अपने जीवनकाल में आपस में भी एक बहस करते रहे थे- क्या राष्ट्रवाद की अवधारणा इस्लाम के विरुद्ध या विपरीत? क्या इस्लाम में समग्र राष्ट्रवाद के लिए स्थान है? मौलाना मदनी पारंपरिक इस्लामी सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं तो इकबाल एक ऐसे दार्शनिक हैं जो पश्चिमी दर्शनशास्त्र से परिचित हैं और आधुनिकता की अवधारणा से निरंतर जूझते रहे।

तीसरे अध्याय में सिर्फ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लेख रखा गया है जिसका शीर्षक है- राष्ट्रवाद और भारता। जिसके बाद चौथा पूरा अध्याय विश्वव्यापी सर्वग्राही सोच और राष्ट्रवाद पर केन्द्रित है। इसमें भारत में राष्ट्रवाद पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों की पृष्ठभूमि में देश प्रेम, गंगा जमुनी तहजीब-संस्कृति की एकता और भारतीय संस्कृति में समन्वय पर सरोजनी नायडू के विचारोत्तेजक लेख पढ़ने को मिलते हैं। सरोजनी नायडू की छवि एक कवि के रूप में है, मगर सामाजिक राजनीतिक मुद्दों पर उनकी सोच कितनी सुथरी और आधुनिक थी, इसकी जानकारी कम लोगों को है। इस अध्याय का अंतिम लेख समग्र संस्कृति और राष्ट्रीयता पर है जिसके लेखक आचार्य प्रफुल्ल चन्द्ररे हैं जो प्रख्यात रसायनशास्त्री थे। यहां यह बात ध्यान देने की है कि आचार्य प्रफुल्ल चन्द्ररे के लेख में राष्ट्रवाद शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि राष्ट्रीयता को इस्तेमाल किया गया है। यहां यह टिप्पणी भी नाजायज़ नहीं कि राष्ट्रीयता की अवधारणा और किसी राष्ट्र-राज्य

की नागरिकता में भी फर्क करने की जरूरत आज पढ़ने लगी है। इसके पहले वाले अध्याय में डॉक्टर इकबाल वाले लेख में कौम और वतन शब्द का प्रयोग किया गया है जिसमें राष्ट्र और देश के बीच फर्क किया गया है। यहां विस्तार से यह बात समझाने की जरूरत नहीं कि इस्लाम में अखिल विश्व को दो भागों में बाँटा जाता है दारुल हर्ब और दाउरु हरब। दारुल हर्ब में रहने वाले काफिर होते हैं और मुसलमानों के दुश्मन समझे जाते हैं। कौम मुसलमानों की है जिनके वतन अलग-अलग हो सकते हैं, अरब भू-भाग हिन्दुस्तान ईरान, इंडोनेशिया और बांग्लादेश जैसे। बहरहाल यहां इस बात को ध्यान में रखने की जरूरत है कि इतिहास इस बात का गवाह है कि ऐसा भी नहीं कि इस्लाम के अनुयायी सभी मुसलमान आपस में शांति से रहते रहे हो। शियाओं और सुन्नियों का रक्तरंजित संघर्ष सदियों पुराना है और जगजाहिर। इसके इलावा यह बात भी एक से अधिक बार उजागर हो चुकी है कि सिर्फ धर्म मुसलमानों को एक राष्ट्र-राज्य में बने रहने को राजी नहीं कर सका है। पाकिस्तान और बांग्लादेश का बँटवारा भाषा के कारण हुआ और आज भी पाकिस्तान में विखण्डनकारी तत्व सिंध से लेकर बलूचिस्तान तक इस्लामी भाईचारे के बावजूद सक्रिय है। सीरिया और ईराक में नई इस्लामी खिलाफत की चुनौती सऊदी अरब के लिए बड़ा सरदर्द बन चुकी है। सऊदी अरब में 19 वीं सदी में जिस आक्रामक और असहिष्णु और कट्टरपंथी और वहाबी इस्लाम का विकास हुआ है उससे भी कहीं अधिक कट्टरपंथी तेवर इस नई खिलाफत वाले आई.एस.आई.एस. के हैं। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रवेश उसी समय से हुआ, जब महात्मा गांधी ने तुर्की के आधुनिकीकरण के विरुद्ध खिलाफत आन्दोलन को अपना समर्थन दिया और कांग्रेस को भी इसके लिए राजी करवाया।

पाँचवें अध्याय में सहानुभूति और राष्ट्रवाद शीर्षक के अन्तर्गत महात्मा गांधी के दो लेख

शामिल किये गये हैं इनमें पहले का शीर्षक बहुत महत्वपूर्ण है क्या राष्ट्रवाद के लिए घृणा है? आज बार-बार हम यह सोचने को मजबूर किये जा रहे हैं कि हमारा राष्ट्रवाद इसलिए संकटग्रस्त है कि देश के भीतर या देश की सरहद के बाहर हमारे शत्रु हमारी एकता और अखण्डता को नष्ट करने के लिए कसर कसे हैं और इसीलिए जो व्यक्ति बेहिचक आंखमूंद कर राष्ट्रभक्त और देशप्रेमी नहीं दंडित किये जाने योग्य।

गांधी जी के दूसरे लेख का शीर्षक है राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता। यहां इस बात का उल्लेख परमावश्यक है कि राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के बारे में गुरुदेव और महात्मा में हमेशा बुनियादी मतभेद रहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मानना था कि राष्ट्रवाद एक बहुत बड़ा खतरा है। यही वह चीज है जो बरसों से भारत की सभी दिक्कतों की जड़ रही है। दो विश्वयुद्धों के बीच के अन्तराल में रवीन्द्रनाथ ने अपने विश्वभ्रमण के दौरान राष्ट्रवाद पर अनेक भाषण दिये इन सभी में स्रोताओं की राष्ट्रीयता को दर किनारकर उन्होंने सभी को यह सीख दी थी कि वह संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठ विश्व बंधुत्व को अपनाये। आजादी की लड़ाई का नेतृत्व कर रहे गांधी के लिए राष्ट्रवाद से इतना आसान नहीं था। तब भी कुल मिलाकर द्वितीय विश्वयुद्ध का और उसके बाद का अनुभव यही सबक सिखलाता है कि उग्र राष्ट्रवाद के परिणाम कितने नुकसानदेह हो सकते हैं। वह जर्मनी का नाजीवाद हो, जापान का नाजीवाद या शीतयुद्ध के दौर में विचारधारा के नाम पर अमेरिकी और रूसी राष्ट्रवाद का टकराव।

छठा अध्याय राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रवाद के बीच के रिश्ते की ओर हमारा ध्यान दिलाता है। इस निबंध के लेखक है सरदार वल्लभभाई पटेल। पटेल को भारत का लौह पुरुष इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने साढ़े पांच सौ से अधिक भारतीय रियासतों और रजवाड़ों का विलय भारतीय गणराज्य में करवाया। देश के विभाजन के बाद लाखों की तादाद में भारत पहुंचे शरणार्थियों के

पुनर्वास का काम भी गृहमंत्री के रूप में उन्होंने संपन्न कराया। सरदार पटेल की उपलब्धियां इतने तक ही सीमित नहीं। आजादी के बाद देश के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के जिस ढांचे का गठन किया गया, भले ही उसकी बुनियाद बर्तानवी सिविल सेवा के इस्पाती ढांचे पर रखी गई थी उसके निर्माण में सरदार पटेल का निर्णायक योगदान रहा। इन सब बातों का उल्लेख इसलिए जरूरी है कि हम इस बात को समझ सके कि सरदार पटेल की समझ में, उनके कार्यकाल में देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करना ही सबसे बड़ी चुनौती थी और इसी कारण राष्ट्रवाद पर उनके विचार इसी परिप्रेक्ष्य में समझे जा सकते हैं। अक्सर वैचारिक आधार पर नेहरू और सरदार पटेल के बीच सैद्धांतिक मतभेद की चर्चा की जाती है। पर यहां इस निबंध को पढ़ने के बाद यह लगता है कि कम से कम उस वक्त राष्ट्रवाद के मुद्दे पर इन दो बड़े नेताओं के सोच में कोई दरार नहीं थी। संपादक की चेष्टा यह दर्शाने की रही है कि देश की एकता और अखण्डता को प्राथमिकता देने के बाद भी राष्ट्रवाद को उग्र अंधदेश प्रेमी भाव से परिभाषित करने की कोई अतिव्यर्थता नहीं।

इसी अध्याय के अगले हिस्से में जवाहरलाल नेहरू के दो लेख हैं, पहला राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के बारे में संक्षेप में, पर बहुत सटीक ढंग से उनके विचारों को प्रकट करता है और दूसरे में संस्कृति के बारे में यह सवाल उठाया गया है कि संस्कृत है क्या? नेहरू के लिये, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही तरह संस्कृति किसी धर्म, भाषा या नस्ल तक सीमित नहीं की जा सकती, वह मानव जाति की समग्र प्रगति ज्ञान और विज्ञान के विकास के साथ बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय साझे की विरासत ही हो सकती है। नेहरू इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके दिमाग में इस विषय को लेकर बहुत असमंजस है और वह सिर्फ अपनी मानसिक हलचल का साझा ही पाठकों से

कर रहे हैं।

सातवें अध्याय में बाबा साहब अम्बेडकर के दो लेख हैं। पहले का शीर्षक है- राष्ट्र का निर्माण कौन करता है? और दूसरे निबंध में उन्होंने अपने राजनैतिक दल लेबर पार्टी के विचार राष्ट्रवाद के संदर्भ में प्रस्तुत किये हैं। इसी सिलसिले में पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जितने भी महानुभावों के विचार यहां संकलित किये गये हैं, उन्होंने यह सब किसी खास समय में मुखर किये थे। इनमें कुछ जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरोजनी नायडू के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह सार्वभौमिक है, पर कुछ और के विचार आज की बदली परिस्थिति में सिर्फ शब्दार्थ ही रह गये हैं, भावार्थ नहीं। आज लेबर पार्टी के विचार आजादी की लड़ाई के दौरान राष्ट्रवाद के बारे में क्या थे और डॉक्टर अम्बेडकर का उस वक्त क्या सोच था, यह जानना उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यह कि दलित समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दल बहुजन समाज पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी या अन्य राष्ट्रीय राजनैतिक दल कांग्रेस आदि के क्या विचार राष्ट्रवाद के बारे में हैं? यह बात भी उल्लेखनीय है कि डॉक्टर अम्बेडकर संविधान का मसौदा तैयार करने वाली समिति के अध्यक्ष थे और भारतीय गणराज्य के राष्ट्र के रूप में उनकी सोच इसके अनुच्छेदों में स्वाभाविक रूप से प्रतिबिंबित होती है।

आठवें अध्याय में राष्ट्रवाद और संस्कृति के बारे में दक्षिणपंथी उदारवादी सोच का प्रतिनिधित्व है। इसके एकमात्र उदाहरण के रूप में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को यहां स्थान दिया गया है जिनके तीन लेखों के शीर्षक हैं- प्रगतिशील देश प्रेम की जरूरत, भारतीय संस्कृति और आत्म संयम तथा विदेशियों का भय और भाषाई राष्ट्रवाद। जहांतक गतिशील देश प्रेम की जरूरत या भारतीय संस्कृति के आत्म संयमी आयाम का प्रश्न है, समसामयिक संदर्भ में इनकी उपयोगिता के बारे में दोराय नहीं हो सकती। इसके साथ-साथ 'भाषाई राष्ट्रवाद' के बारे में अलग से टिप्पणी जरूरी है। देश की एकता

और अखण्डता तो खतरा आज सिर्फ साम्प्रदायिक या जातिवादी वैमनस्य से नहीं। भाषाई-क्षेत्रीय उपराष्ट्रवाद भी हमारे सामने फन फैलाये सांप की तरह खड़ा है। जब राजा जी ने यह भाषण दिया था उस समय उन्हें यह लग रहा था कि उत्तर भारतीय बहुसंख्यक दक्षिण भारतीयों पर हिन्दी थोपकर उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक बनाने की साजिश रच रहे हैं। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि कभी दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार के अभियान का संचालन करने वाले राजा जी 1950 और 1960 के दशक में हिन्दी विरोधी स्वर मुखर करने लगे थे। भारत का गर्वनर जनरल बनने के बाद मद्रास का मुख्यमंत्री बनने का लोभ वह सवर्ण नहीं कर सके। उस राज्य में उनकी राजनीति ब्राह्मणवादी वर्चस्व के साथ जुड़ी समझी जाती है और इसी कारण कुछ विद्वान यह भी सुझाते हैं कि बाद के वर्षों में तमिलनाडु की राजनीति में द्रविड़ राजनीतिक पार्टियों को आमो बढ़ने की जमीन तैयार हो सकी। फिलहाल यहां इस विषय में विस्तार से टिप्पणी की आवश्यकता नहीं, पर यह याद दिलाना जरूरी है कि आज के हिन्दुस्तान में भाषाई, जनजातीय, क्षेत्रीय उपराष्ट्रवाद की उपेक्षा कर राष्ट्रवाद या देश प्रेम की बात करना निरर्थक है। पूर्वोत्तरी राज्यों का अलगावाद या असम की उथल-पुथल इसके बिना समझी नहीं जा सकती। आप किसी को भी मारपीट कर देश प्रेमी या जिम्मेदार नागरिक नहीं बना सकते। यहां एकबार फिर नागरिकता-नागरिक के कर्तव्य, अधिकार देश प्रेम और राष्ट्र भक्ति के बारे में तटस्थ रूप से विचार करने की जरूरत है।

अगले अध्याय में संपादक ने शायद संतुलन बनाये रखने के लिये क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का बिम्ब हमारे सामने रखा है। पुस्तक के इस हिस्से में सुभाष चन्द्र बोस भगत सिंह और एम.एन. रॉय के विचार संकलित किये गये हैं। निश्चय ही यह तीनों ही क्रांतिकारी कहे जा सकते हैं, पर आजादी की लड़ाई के सिलसिले में एम.एन. रॉय की भूमिका नेताजी और भगत सिंह की तुलना में नगण्य ही रही है और आजादी के बाद के

वर्षों में भी उनके विचार और राजनैतिक दर्शन को मुख्यधारा में कभी स्थान नहीं मिल सका। इसी तरह भगत सिंह की शहादत पर पूरा देश नाज करता है, पर यह दावा तर्क संगत नहीं कि राष्ट्रवाद या साम्प्रदायिकता विरोधी उनके विचारों से जनसाधारण लेशमात्र भी परिचित रहा है। यहां संकलित लेखों में साझे के राष्ट्रवाद और बिना भेदभाव के राष्ट्रवाद पर केन्द्रित दो लेखों के अलावा 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' वाला लेख भी प्रकाशित किया गया है। सुभाष चन्द्र बोस के लेख में पहले का शीर्षक है साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद नहीं और दूसरे का शीर्षक यह साफ करता है कि स्वस्थ राष्ट्रवाद के लिये कट्टरता को हराना आवश्यक है। एम.एन. रॉय के लेख देश भक्ति और बुर्जुआ राष्ट्रवाद की चर्चा करते हैं।

दसवें अध्याय में मौलाना आजाद और खान अब्दुल गफ्फार खान के विचार संकलित है और इस अध्याय का शीर्षक है- अविभाज्य राष्ट्रवाद। मौलाना आजाद ने संकीर्ण राष्ट्रवाद के खतरों से सभी का आगाह करते हुए मुसलमानों के संदर्भ में राष्ट्रवाद पर दोटूक टिप्पणी की है और भारत की एकता के लिए भारतीय राष्ट्रीयता की अवधारणा को सामने रखा है। खान अब्दुल गफ्फार खान के लेख का शीर्षक ही सूत्रवाक्य है, राष्ट्रवाद धर्म से परे पहुंचता है। ग्यारहवें अध्याय में प्रसिद्ध लेखक और फिल्म जगत से जुड़े प्रगतिशील साहित्यकार ख्वाजा अहम अब्बास के दो छोटे-छोटे लेख प्रकाशित किये गये हैं। इसमें पहला मनमौजी ढंग से लिखा गया एक समग्र हिन्दुस्तानी की

तलाश है और दूसरे का शीर्षक है मुसलमानों के राष्ट्रीयता की परीक्षा। यह दोनों लेख कई बरस पहले लिखे गये थे, पर ऐसा लगता है जैसे आज ही के माहौल ने इन्हें प्रेरित किया है। अंतिम अध्याय में राष्ट्र और राष्ट्र-त्व को परिभाषित करने की कोशिश लोकनायक जयप्रकाश नारायण के माध्यम से की गई है। राष्ट्र का जन्म और राष्ट्र-त्व की अवधारणा वाले लेख अमूर्त चिंतन को व्यावहारिक जगत से जोड़ने वाले हैं और तीसरे लेख में आक्रामक राष्ट्रवाद को संसार के

लिये एक खतरा बतलाया गया है। जय प्रकाश नारायण गांधी के शिष्य थे और कभी जवाहरलाल नेहरू को आजादी तक अपना अग्रज कहते थे। बाद के वर्षों में नेहरू के साथ गंभीर सैद्धांतिक मतभेदों के चलते उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी। उनकी एक बिल्कुल अलग पहचान जुझारु समाजवादी कांग्रेसी से इतर सर्वोदय समाजिक कल्याण का अभियान चलाने वाले रचनात्मक संगठनकर्ता के रूप में हैं- कश्मीर और पूर्वोत्तरी राज्यों को लेकर नेहरू की केन्द्र सरकार से उनका लगातार मतभेद और संघर्ष चलता रहा। इंदिरा गांधी को निरंकुश और अजनतांत्रिक शासक बनने से रोकने के लिए उन्होंने जो नव-निर्माण आन्दोलन चलाया उसी को नष्ट करने के लिए इंदिरा को आपातकाल लागू करना पड़ा। आपातकाल से देश को दूसरी आजादी दिलाने वाले नेता के रूप में जय प्रकाश अमर रहेंगे। पर एकबार फिर यह याद दिलाने की जरूरत है कि जय प्रकाश का देहांत हुए आज लगभग चार दशक होने को है। उनका देश प्रेम किसी से कम नहीं था, कभी भी। पर उनकी राष्ट्रभक्ति अंधी नहीं थी और नहीं राष्ट्र प्रेम की कोई संकीर्ण परिभाषा वह स्वीकार करते थे। उनके जीवनकाल में ही उनके अनुयाइयों में चुनावी राजनीति और सत्ता लोलुपता के कारण फूट पड़नी शुरू हो गई थी और उन्होंने जय प्रकाश नारायण के विचारों को तिलांजली दे दी थी। अतः यह कल्पना करना कठिन है कि उनके राष्ट्रवादी विषयक सोच को समसामयिक राजनैतिक विमर्श में कोई भी गंभीरता से लेता है या लेगा।

पुस्तक बेहद महत्वपूर्ण है, खासकर प्रतियोगी परीक्षाओं में भाग लेने वाले प्रत्याशियों के लिये एक ही जगह राष्ट्रवाद विषयक इतने विचारकों से साक्षात्कार दुर्लभ है। भूमिका खासतौर से पठनीय है। निबंध लिखने में इस पुस्तक की सामग्री बहुत सहायता दे सकती है। व्यक्तिगत राय कुछ भी हो अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए विभिन्न विचारों से परिचित होना जरूरी है खासकर उनसे जिनसे आप सहमत ना हो। इसीलिए यह पुस्तक अनिवार्य रूप से पढ़ी जाने लायक है।